एकादश सर्ग

आशीष

(कर्ण)

(छन्द-रूपमाला)

आज दशवें दिवस आया दौड़ता क्यों दूत।
कहा शरशय्या पड़े हैं वे पितामह पूत[1]।
शिखण्डी की ओट से अर्जुन चलाए बाण।
हो रहे हैं पितामह के बहुत व्याकुल प्राण ॥1॥

हैं सभी योद्धा उपस्थित खोजती पर दृष्टि।
सभी सकरुण हो रहे करते नयन हैं वृष्टि।
स्वयं हरि कर रहे उनको बार-बार प्रणाम।
मुक्त स्वर में पार्थ भी है रो रहा अविराम[2] ॥2॥

लगा सुनकर हृदय को अति तीव्र सा आघात।
काल ऐसी भी कभी क्या लगाता है घात।
पाण्डवों को बढ़ चला इतना विजय का मोह।
थामते हैं हाथ छल का धर्म से कर द्रोह ॥3॥

उपेक्षा पा सदा जिनसे भरा मन में रोष।
युद्ध से वञ्चित रखा है अभी तक आक्रोश।
किन्तु सुन उनकी दशा ये भाव होते लुप्त।
प्रस्फुटित उर में हुआ सम्मान जो था सुप्त ॥4॥

---

1. पवित्र; 2. लगातार।

भले आधा[1] रथीमैं हूँ मात्र उनके हेतु।
भले जीवन भर रहे क्षत्रिय अहं के केतु[2]।
जा रहे जो छोड़ने यह जगत ही निस्सार।
आज उनके प्रति नहीं मैं मान[3] सकता धार ।।5।।

(गीतिका)

रुक नहीं सकता अभी दर्शन करूँ कुरुश्रेष्ठ के।
शूरवीरों में प्रथम व्रतधारियों में ज्येष्ठ के।
नीति के मर्मज्ञ शासनतन्त्र के ज्ञाता महा।
चरित अनुकरणीय उनका सदा पुरुषों को रहा ।।6।।

पराकाष्ठा शौर्य को, देखूं तितिक्षा[4] छोर को।
सोच कर यह क्षिप्रगति[5] से बढ़ चला उस ओर को।
जहाँ शरशय्या पड़े क्षत्रिय-शिरोमणि शान्त से।
त्याग तप नय[6] शौर्य व्रत के एकमात्र निशांत[7] से ।।7।।

(कवि)

अतिविनययुत किन्तु गुरु[8] के विमुख रण जो ठानते।
ब्रह्मचारी भी विपुलकुल[9] पितामह सब जानते।
मन सदा निष्काम है पर राज्यहित सुत से लड़े।
मीचु[10] थी वश्या तदपि जो मृत्यु शय्या पर पड़े ।।8।।

जितेन्द्रिय प्रतिश्रुत[11] सदा पर काशिराजसुता[12] हरी।
पितापरिणययोजना[13] होकर तनय निश्चित करी।
वीर होकर भी शिखण्डी सामने आयुध धरे।
वीर-वर-शार्दूल[14] को भी लघु शकुनि[15] पीड़ित करे ।।9।।

---

1. भीष्म ने कर्ण को तिरस्कृत करते हुए उसे अर्धरथी कह दिया था; 2. पताका झण्डा; 3. अभिमान रूठना; 4. सहनशीलता; 5. तीव्र गति; 6. नीति; 7. घर 8. भीष्म के गुरु परशुराम; 9. विशाल कुल वाले; 10. मृत्यु; 11. प्रतिज्ञा बद्ध; 12. काशी नरेश की पुत्रियाँ अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका जिन्हें भीष्म सत्यवती के पुत्रों के लिए हर लाए थे; 13. भीष्म के पिता शान्तनु; 14. व्याघ्र; 15. पक्षी, गान्धारी के भाई।

(छप्पय)

कुलिश - कठोर - शरीर वाहिनी - धारणकर्ता।
अति अलंघ्य सन्ध्यायुत यतिमुनि जनमन हर्ता।
नितगर्वोन्नितशीर्ष सघन वंशावलि शोभित।
श्रुत-बहु- शकुनि - प्रलाप क्षमाधर भार्गव-कोपित।
सत्ववन्त बहुवययुक्त भी हैं भूगत रणसिद्ध हो।
रक्त-कुसुम-शोभित क्रौञ्च से गङ्गातनय शरविद्ध हो ॥10॥

(गीतिका)

जननिवत[1] ही परम पावन चरित जिनका है रहा।
सकल पाण्डव सैन्य जिनके विक्रमानल[2] में दहा[3]।
दीप्त वपु वह पा रहा है धूर्त मनुज शरव्यता[4]।
कौन सा यह पंथ चुनती आर्यजन की सभ्यता ॥11॥

वीरताप्रतिमान[5] की कैसी दशा यह हो गयी।
विजयिनी छलना[6] हुई लज्जा सदा को खो गयी।
शूरता को कर कलंकित पार्थ ने यह क्या किया।
घोर यह अन्याय विधि ने पितामह कैसे किया ॥12॥

चरण युग धर शीश वृष[7] विगलित हृदय रोने लगा।
कलुष ही मानों हृदय का धीर वह धोने लगा।
नमित जिनके सामने थे वीर आर्यावर्त के।
बन गये आखेट कैसे काल के आवर्त[8] के ॥13॥

---

1. माता गङ्गा के समान; 2. पराक्रम रूपी अग्नि; 3. जला; 4. लक्ष्य; 5. मान-दण्ड; 6. छल प्रपञ्च; 7. कर्ण; 8. भँवर।

कुलिश = बज्र
वाहिनी = सेना, नदी
संध्या = प्रतिज्ञा, संध्या
वंश = बाँस, वंश, कुल
शकुनि = गंधार नरेश का पुत्र; पक्षी
क्षमा = पृथ्वी, क्षमा
भार्गव = परशुराम
सत्व = बल, सार, प्राणी
वय = उम्र, पक्षी
रक्त = लाल, रुधिर
गङ्गातनय = भीष्म, कार्तिकेय
क्रौञ्च = एक पर्वत जिसे कार्तिकेय ने तथा परशुराम ने बाणों से छेद डाला था।

भीष्म

(सार-छन्द)

शोक नहीं है उचित तुम्हें,
हे धीर दिवाकरनन्दन।
वीरपुरुष ऐसे ही करते,
सदा मृत्यु अभिनन्दन।
नर अजेयता के भ्रम में कुछ,
रहते हैं भरमाए।
कितनी बार काल ने ये,
विश्वास यहाँ झुठलाए ॥14॥

क्या करना है शोक विनाशी,
पंचतत्व[1] काया का।
नितपरिणामी[2] जगत सृजन है,
चित्र[3] महामाया[4] का।
कितनी बार बना है भूतल,
कितनी बार मिटा है।
बहुधा हुआ अग्रसर सागर,
बहुधा फिर सिमटा है ॥15॥

पर्वतराज हिमालय सा प्रकटित
है उदधि नितल से।
मिट जाते हैं क्रमशः भूधर,
इस धरती के तल से।
काल अखण्ड अनादि प्रकृति है,
सब कुछ यह नश्वर है।
मात्र एक उसकी सत्ता जो,
अविनाशी भास्वर[5] है ॥16॥

1. पंच महाभूतों (आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु) से बनी; 2. सतत परिवर्तन शील; 3. विचित्र; 4. परब्रह्म की सर्जना शक्ति जो आवरण विक्षेप करती है; 5. प्रकाशमान।

नभ-गङ्गा[1] में बने सूर्य यह,
धरती रवि की जायी।
देकर पुनः जन्म विधु को यह,
जननि सदृश हर्षायी।
जल से जलज जन्तु आये फिर,
पादप जगत हुआ है।
जलचर से फिर हुए उभयचर,
वसुधागात्र छुआ है ॥17॥

कोटिक[2] वर्ष व्यतीत हुए हैं,
इस फूलती प्रकृति को।
तब मानव रूपी गढ़ पायी,
है यह सुन्दर कृति को।
इस विराट ब्रह्माण्ड मध्य है,
मानव की क्या सत्ता[3]।
पर यह नर अणुकाय[4] मानता,
निज की बड़ी महत्ता ॥18॥

कोटिक जीवन होते उद्गत[5],
कोटि लीन होते हैं।
मात्र स्वार्थवश हम निज क्षय को,
देख दीन होते हैं।
हम भी उनमें एक नहीं हैं,
कुछ विशिष्ट जीवों से।
कहाँ रिक्तता ? भरी पड़ी है,
धरती बलसीवों[6] से ॥19॥

1. आकाश गङ्गा; 2. करोड़ों; 3. स्थिति; 4. अणु के समान क्षुद्र, सूक्ष्म; 5. उद्भूत; 6. बलवान, वीर मनुष्य।

किंपुरुषों[1] का साथ सदा है,
वसु दुखान्त[2] होता है।
विज्ञ[3] पुरुष भी क्रमशः हो,
पथभ्रष्ट भ्रान्त होता है।
जो न बदलते साथ समय के,
काल उन्हें खाता है।
मेरे जैसा पुरुष बँधा वचनों,
में रह जाता है।।20।।

मात्र एक सिंहासन को ही,
जनपद[4] मान लिया था।
उसकी भौतिक रक्षा का ही,
बस प्रण ठान लिया था।
क्या किंचित भी रोक सका हूँ,
होते क्रमिक क्षरण[5] को।
आया क्यों टालता अभी तक,
यह गाङ्गेय[6] मरण को।।21।।

आत्महीनताग्रस्त नृपति फिर,
पुत्र धृष्ट अभिमानी।
और शकुनि शत्रुता मानता,
कुरु से बहुत पुरानी।
उदासीन हो बैठा मैं भी,
अपराजेय समझकर।
पर[7] को ही जीतता मनुज पर,
जोर कहाँ अपनों पर।।22।।

---

1. कुत्सित पुरुष; 2. जिसका अन्त दुःखद हो; 3. ज्ञानी; 4. राज्य; 5. विनाश; 6. भीष्म गङ्गापुत्र; 7. शत्रु।

वंश[1]विघर्षणजन्य[2] ताप दावानल,
बन जाता है।
किन्तु मूढ़ दुर्योधन इतना भी,
न समझ पाता है।
कुछ नर व्याघ्र समान स्वकीय[3],
न सन्तति भी सहते हैं।
खा कर नित्य कुरंग[4] स्वयं को,
मृग[5]-पति भी कहते हैं ।।23।।

केवल धन से या बल से,
मानव की प्रगति कहाँ है।
जब तक आत्म विकास न पाता,
सुख या सुगति कहाँ है।
अथवा कैसे व्याख्या हो सकती,
कुरु की अवनति[6] की।
कैसे भला पूर्ति संभव मानव,
चारित्रिक क्षति की ।।24।।

अपने दोष नहीं दिखते हैं,
कर्ण कभी मानव को।
सोचो तुम्हीं बुलाया किसने,
विकट युद्ध दानव को।
स्वार्थ और हठ बलिवेदी पर,
कितने मनुज चढ़ेंगे।
निज अधिकार हेतु पाण्डव तो,
अब यह युद्ध लड़ेंगे ।।25।।

1. बाँस, कुल; 2. रगड़ आपसी संघर्ष; 3. अपनी; 4. मृग; 5. सिंह; 6. पतन।

कर्ण

(गीतिका छन्द)

आपके ध्वज तले लड़ने का न यश मैं पा सका।
न ही निज कर्तव्य पालन हेतु रण में जा सका।
आज अधिरथ[1] का तनय धरता पगों पर शीश है।
पराक्रम रण में दिखाये माँगता आशीष है ॥26॥

धरें शिर पर हाथ दें वर आज मैं विजयी बनूँ।
स्वार्थं साधूँ सुहृद[2] का या काल की जिह्वा चढ़ूँ।
वीर से है सामना तो वीर सा ही मैं लड़ूँ।
वीरता के भाल पर मैं आज कुँकुम सा लगूँ ॥27॥

(भीष्म)

जानता हूँ हाथ तेरे कौरवों की लाज है।
मानता हूँ शूर तुझसा नहीं जग में आज है।
पर नहीं मैं चाहता यह युद्ध अब आगे बढ़े।
नहीं मम[3] अतिरिक्त कोई व्यक्ति रण की बलि चढ़े ॥28॥

करो अवधारित[5] हृदय में युद्ध की निस्सारता।
नहीं देखा कार्य अब तक रण जिसे हो सारता।
विजेता को भी मिलेगा युद्ध से क्या अन्ततः।
तुम विवेकी हो विचारो प्रश्न यह मेरा स्वतः ॥29॥

हो विवेकी और चाहे युद्ध ऐसा कौन है।
बाध्य होकर धारता धीमान[4] भी तो मौन है।
युद्धपथ पर तात अब तो बहुत आगे बढ़ गए।
इन विचारों के दिवस हैं बहुत पहले कढ़ गए ॥30॥

जानता हूँ वत्स ! मन में तुझे अति ही खेद है।
अधिरथ तुझको कहा इस बात में कुछ भेद है।
करूँ रण से विमुख तुझको यही थी चिन्ता मुझे।
जानती जितनी पृथा[6] मैं जानता पगले तुझे ॥31॥

---

1. अधिरथ—कर्ण का पालन करने वाले हस्तिनापुर के रथ चालक; 2. मित्र; 3. मेरा; 4. समझो; 5. विद्वान; 6. कुन्ती का बचपन का नाम।

ज्ञात क्या उद्भूति[1] तुझको तू प्रथम कौन्तेय[2] है।
धर्मध्वजधारी धरित्री[3] पर सदा अप्रमेय है।
है युधिष्ठिर से बड़ा तू तत्व के विज्ञान में।
पार्थ से सुवरिष्ठ[4] तू है विविध शस्त्रज्ञान में ।।32।।

भीम से भी प्रथम तुमने हराया मगधेश[5] को।
भानुमति[6] की हरण वेला में हरेक नरेश को।
एक रथ आरूढ़ होकर परम दिग्विजयी बने।
दान दे इतना विलक्षण सत्य इन्द्रजयी बने ।।33।।

कृष्ण के ही सदृश तुम तो सर्वगुण सम्पन्न हो।
कहाँ जा पहुँचे तनय तुम आज भाग्यविपन्न हो।
जननि के धीरज बनो तुम बन्धुओं से जा मिलो।
पड़े अब तक धूल में अब शीश पर चढ़कर खिलो ।।34।।

है कहाँ सन्देह प्रकटित सदा तेरी वीरता।
सहे उग्र प्रताप तेरा है किसी में धीरता ?।
जान कर यह तथ्य होकर पितामह कैसे बता।
बन्धुओं से ही लड़ाता नष्ट करता बन्धुता ? ।।35।।

एक जाते ही तुम्हारे महारण यह रुकेगा।
गर्व की प्रतिमूर्ति वह निष्प्रभ[7] सुयोधन झुकेगा।
मृत्यु पथ पर अग्रसर हूँ किन्तु है लिप्सा[8] मुझे।
वंशवट मेरा सुरक्षित रहे ईप्सा[9] है मुझे ।।36।।

---

1. उत्पन्न होना; 2. कुन्ती पुत्र; 3. पृथ्वी; 4. अत्यन्त श्रेष्ठ; 5. जरासन्ध; 6. दुर्योधन की पत्नी 7. कान्ति हीन; 8. लोभ; 9. चाह कामना।

(सार छन्द)

नहीं बाण ये हृदय चुभे ही,
प्रकटे बाहर काँटे।
मैंने भी हे वत्स क्लेश निज,
मन के कभी न बाँटे।
तेरे सदृश सदा जीवन में,
भीष्म रहा एकाकी।
हर कमनीय कामना मन की,
मसली त्वरित[1] वराकी[2] ॥37॥

सदा कुपात्रों की सेवा में,
मेरा शौर्य लगा है।
प्रथम बार पर मेरे मन में,
पश्चाताप जगा है।
हुआ जर्जरित[3] जो क्रमशः,
उस कुरु की करी सुरक्षा।
कर न सका पर इस प्रयास में,
चिरमूल्यों की रक्षा ॥38॥

मेरे अनुभव से कुछ सीखो,
शौर्य न व्यर्थ गँवाओ।
सत्कार्यों में निज बल को,
लाघव[4] को कर्ण लगाओ।
दे अधर्म का साथ लड़ रहे,
हारी हुई लड़ाई।
मेरे सदृश प्रताप दिखाकर,
मिलती कौन बड़ाई ॥39॥

---

1. शीघ्र ही; 2. बेचारी। 3. जीर्ण शीर्ण; 4. कौशल।

मानवता का नाश रुकेगा,
अब भी बहुत समय है।
अभी असाध्य[1] नहीं नरता का,
बढ़ा हुआ आमय[2] है।
है सन्मित्र वही जो नर को,
वारित[3] करे कुपथ से।
यदि यह संभव नहीं छोड़ दे,
जो हट चुका सुपथ से ॥40॥

वचनबद्धताजात विवशता से,
यदि साथ अनय[4] का।
देते हो तुम कर्ण सत्य-हित,
कारण होगा भय का।
मत आदर्श बनाओ मुझको,
मैं तो हार चुका हूँ।
अनयकवच बन रहा, आज,
वह भार उतार चुका हूँ ॥41॥

बने राष्ट्रहित की बाधा,
जन हेतु अमंगलकारी।
निज विकास की बने अर्गला,
रिपुहित साधन हारी।
कालात्यय[5] से क्षपित[6] हो चुकी,
जिसकी प्रासङ्गिकता।
श्रेय मार्ग की जो बन बैठे,
मूर्तिमती परिमितता ॥42॥

1. जिसकी चिकित्सा न हो सके; 2. रोग; 3. हटाना; 4. अनीति;
5. समय बीत जाना; 6. नष्ट हो चुकी।

लङ्घनीय वह विषम प्रतिज्ञा,
नहीं दोष कुछ इसमें।
लोकभूति[1] हो लक्ष्य, रहे,
निःस्वार्थ दृष्टि यदि जिसमें।
यदि कृतज्ञता और मित्रता,
बनतीं यान कुपथ की।
मनुज विवेकी वही करे,
अवहेला[2] क्षुद्र शपथ की॥43॥

अतिवादिता सदा बाधक है,
मानव की उन्नति की।
नहीं ध्रुवों पर दिखती मुझको,
संभावना प्रगति की।
मध्यम मार्ग विवेक युक्त है,
वसु निश्चय तुम जानो।
साधक है पुरुषार्थ[3] चतुष्टय
का इसको पहचानो॥44॥

स्थिरता नहीं छलांगों में है,
नहीं लुढ़कने में है।
श्रेय सदा सुविचारित पग से,
क्रमश बढ़ने में है।
जीवन है संक्षिप्त प्रयोगों का,
न यहाँ अवसर है।
आर्यों को तो प्राप्त आप्त-जन[4],
अनुभव रूपी वर है॥45॥

---

1. लोककल्याण 2. उपेक्षा; 3. धर्म, अर्थ काम और मोक्ष; 4. ज्ञानी पुरुष जिसके वचन प्रामाणिक माने जाते हैं।

नहीं अडिगता पाहन जैसी,
श्रेयस्करी[1] सदा है।
असमायोजी[2] मनुज नियति[3] में
नियत[4] विनाश बदा है।
उग्र प्रभञ्जन[5] में विनष्ट तरु,
दीर्घ बड़े होते हैं।
लचकदार तरु झुक जाते हैं,
पुनः खड़े होते हैं ॥46॥

कर्ण

पितामह मत डालिए अब मोह के संग्राम में।
नहीं कोई गेह[6] मेरा भावना के ग्राम में।
सुन चुका हूँ कृष्ण, पाण्डव जननि से दारुण[7] कथा।
बाँध बस कर्तव्य का है रोकता मन की व्यथा ॥47॥

है नहीं कोई धरा पर मनुज में यह मानता।
आपसे बढ़कर प्रतिज्ञा तत्व को जो जानता।
कहा जाएगा पलायन[8] क्या वही कर्तव्य है।
है सुयोधन त्याज्य[9] या फिर मोह परिहर्तव्य है ॥48॥

त्यागना है कठिन अब तक पंथ[10] जो मैंने गहा।
कट गया जीवन समूचा शेष है अब क्या रहा।
मित्रता पर ही समर्पित हो चलूँ यह ध्येय है।
धर्म सम्मत हो न हो मम हेतु पथ यह श्रेय है[11] ॥49॥

बिखराकर नभ में छटा कुछ क्षण होता अस्त।
हीन शुक्र से भासते तारक मुझे समस्त ॥50॥

---

1. कल्याणकारी; 2. सामंजस्य स्थापित न करने वाला; 3. भाग्य; 4. निश्चय; 5. झंझावात; 6. घर; 7. भयानक; 8. भाग जाना; 9. त्यागे जाने योग्य; 10. मार्ग; 11. कल्याण प्रद।

सत्पुरुषों का कोप ताप भी,
मानव का हितकारी।
उष्ण स्त्रोत जल अवगाहन ज्यों,
नित होता गदहारी[1]।
करते अर्णव[2] तप्त अर्यमा[3],
मात्र प्रकृति पालन को।
किन्तु मूढ़ मुझसे न समझते,
ऐसे परिचालन को ॥51॥

आपके प्रति भाव कटु इस कर्ण ने हैं जो रखे।
तात कर दो क्षमा विषफल बहुत जीवन में चखे।
भर्त्सना[4] मैं आपकी कल्याण का ही भाव था।
था नहीं कुछ भान[5] मन पर द्वेषजन्य प्रभाव था ॥52॥

भेद के विषबोज घर में बैठ बोये जा रहे।
बली हो निर्लज्ज निर्बल भाग खाये जा रहे।
सिखाते उद्भव हमारा मात्र शासन के लिए।
युक्तियाँ सब क्षम्य हैं अधिकार आसन के लिए ॥53॥

कन्यकाजन अपहरण अब वीरता का चिह्न है।
पितामह अब दीखता यह देश कितना भिन्न है।
स्वयंवर भी अकारण रणक्षेत्र बन जाते कभी।
तुच्छ कारण पर परस्पर वीर तन जाते कभी ॥54॥

वञ्चना छल छद्म ही अब बुद्धि के पर्याय हैं।
इसव्यवस्था में कठिन मिलना मनुज को न्याय है।
विज्ञजन हितकारिणी वाणी निरादृत हो रही।
मत्त खल की ग्राम्य बल भाषा समादृत हो रही ॥55॥

1. रोग दूर करने वाला; 2. समुद्र; 3. सूर्य; 4. निन्दा; 5. ज्ञान आभास।

व्यसन ऐसी सभ्यता के माप होते जा रहे।
ज्ञान ऋजुता त्याग तप अब मूल्य खोते जा रहे।
साध्य है धनवृद्धि साधन घृणित कितने भी रहें।
मान्य सत्तासीन कुत्सित चरित कितने भी रहें ।।56।।

शासक सभी इस राष्ट्र के च्युत[1] हो चुके हैं धर्म से।
अब कौन कुत्सित व्यक्तियों को हटाए दुष्कर्म से।
शिशु के शवों को बिछाता कोई निजासन के लिए।
एकत्र कोई कर रहा है मनुज नरबलि के लिए ।।57।।

अनास्था बढ़ चली है जन की यहाँ सत्कर्म में।
विवश हैं तत्वज्ञ जिनकी गति रही नय मर्म में।
बन्धुओं को जलाकर भी चाहता सम्पत्ति है।
देखकर उन्नति किसी की किसी को आपत्ति है ।।58।।

कर रहा कोई इकट्ठी रमणियाँ अवरोध[2] में।
दबा देता क्रूरता से स्वर उठे प्रतिरोध में।
द्यूत मदिरा मांस में आखेट में रुचि है बड़ी।
लोक हित में सोचने की पितामह किसको पड़ी ।।59।।

बुद्धि सारी लग रही है क्रूरतर षड्यंत्र में।
और प्रतिभा खोजती है मार्ग ध्वंसक यन्त्र में।
धर्म की भी बात करना आज राष्ट्र विरुद्ध है।
क्षुब्ध है हर मनुज का मन व्यवस्था पर क्रुद्ध है ।।60।।

जानता हूँ पाण्डुसुत अति बली अपराजेय हैं।
उधर केशव भी नहीं मुझको रहे अज्ञेय हैं।
बढ़ाया रिपु भाव मैंने तात यह सब जानकर।
लड़ेंगे सब मूढ़ खल इनसे प्रबल अभिमान कर ।।61।।

---

1. भ्रष्ट, पतित 2. अन्तःपुर।

मरेंगे लड़कर परस्पर देश की चिन्ता किसे।
योग्य जो जिसके मनुज वह फल नियत मिलता उसे।
नहीं कोई अन्य साधन बचा दुष्ट सुधार का।
युद्ध ही हर्ता बने अब दुखद भूतल भार का ।।62।।

रोग से व्यसनी मरेंगे क्षत्र[1] ये सब अन्यथा।
करेगा इतिहास निन्दा देश भारत धन्य था।
जहाँ शासक और रक्षक दुर्व्यसन से क्षीण थे।
मद्य माँसाहार चौसर और द्रोह प्रवीण थे ।।63।।

इस तरह इनको पितामह वीरगति तो मिलेगी।
ध्वस्त होगी यह व्यवस्था तभी तो नव खिलेगी।
तात यह कुरुक्षेत्र श्रेयस्कर बड़ा अनिवार्य है।
मनुजता की व्याधि भीषण इस तरह परिहार्य है ।।64।।

जानता हूँ तात रण के भयावह परिणाम हैं।
लक्ष लक्ष निरीह जन के अस्त होते प्राण हैं।
सफल[2] तरु पुष्पित लताएँ विनशतीं प्रत्यक्ष है।
संग में, पर काटना यह कंटकित विषवृक्ष है ।।65।।

कंटक के अतिरिक्त मरुस्थल—,
जात विटप क्या देता।
किया खिन्न है सतत आपको,
हे प्रभु इन्द्रिय-जेता।
क्षमा करें वह सतत अवज्ञा,
मान मूढ़ता कारण।
अभिमानी अविनीत मनुज का,
रुकता दृष्टि-प्रसारण ।।66।।

---

1. क्षत्रिय; 2. फल सहित।

(भीष्म)

कौन यहाँ निष्कलुष[1] कौन है,
नर निरंक[2] इस जग में।
लगा किसी के भाल और है,
पंक[3] किसी के पग में।
अङ्कहीन[4] क्या स्वयं प्रभाकर,
या फिर पति[5] रजनी का।
बहुगुणदीप्ति मध्य पड़ जाता,
एक दोष अति फीका ॥67॥

देख असह्य प्रताप तुम्हारा,
ईर्ष्या युक्त मनों के।
मुख से सूत शब्द कढ़ता है,
केवल क्षुद्र जनों के।
निज-लघुता-गोपन[6] प्रयास ही,
वसु[7] तुम इसको जानो।
नहीं घृणा विद्वेष हीनता,
धरो आत्म पहचानो ॥68॥

अनुगामिनि[8] अर्हता[9] नहीं है,
जाति या कि वंशों की।
नहीं अन्यथा हम सुनते,
गाथाएँ बहु ध्वंसों[10] की।
वत्स वंश पर मेरा भी था,
अब तक आग्रह भारी।
मम कुटुम्ब ही सिद्ध कर रहा,
हैं न सभी अधिकारी[11] ॥69॥

---

1. निष्पाप, निर्मल; 2. निष्कलंक; 3. पाप दोष; 4. दोष रहित; 5. चन्द्रमा; 6. छिपाना; 7. कर्ण; 8. पीछे चलने वाली; 9. योग्यता, पात्रता; 10. विनाश; 11. योग्य, पात्र।

यदि रण हेतु किया है निश्चय,
बढ़ो वीर तुम पथ पर।
विजय[1] शरासन लेकर कर में,
चढ़ो जैत्र[2] निज रथ पर।
स्वार्थगर्भ[3] यदि कर्म नहीं है,
निर्विकार[4] कर्ता है।
लोकमान्य[5] यदि है साधन को,
दोष नहीं धरता है ।।70।।

बहुधा बाधाएँ आतीं हैं,
लक्ष्य सिद्धि में नर की।
पहले मोहक फिर मादक,
घटती घटनाएँ डर की।
सागर-मन्थन-रत देवासुर,
विष के यदि डर जाते।
तो अमरत्व सुधा पीकर वे,
प्राप्त कहाँ कर पाते ।।71।।

अध्यवसायी धीर पुरुष का,
निश्चय गिरि[6] समहोता।
क्षुद्रमनुजसंकल्प रूप नित,
सिकताचय[7] सा खोता।
बाधाएँ भी धीरों का उत्साह,
बढ़ाने आतीं।
शक्ति प्रकीर्ण[8] उद्यमों में,
अस्थिर की बँट रह जाती ।।72।।

---

1. कर्ण के धनुष का नाम; 2. कर्ण के रथ का नाम; 3. जिसके मूल में स्वार्थ हो 4. विकार रहित; 5. समाज द्वारा स्वीकृत 6. पर्वत; 7. रेत का ढेर; 8. बिखरे हुए।

(भीष्म)

धन्य हो तुम वत्स भारत भूमि के गौरव रहो।
प्राप्त कर तुझसा सखा कृतकृत्य[1] यह कौरव अहो।
छोड़कर रिपुभाव हो निरपेक्ष[2] कर लो कर्म को।
करो कौरव पक्ष में संग्राम पालो धर्म को ।।73।।

मैं न कहता था कि जिस दिन त्याग देगा मान तू।
वीरता के तत्व को ही त्वरित[3] लेगा जान तू।
विविधशस्त्रप्रयोगकौशल ही न इसका सार है।
बाहुबल से बुद्धिबल से शूरता उस पर पार है ।।74।।

(दोहा)

ज्यों ज्यों घटता मान हैं त्यों त्यों बढ़ता मान।
जो जितना ही विनत नर उन्नत उतना जान ।।75।।

विविध मनुजोचित गुणों का वीरता आवास है।
निडरता उत्साह करुणा क्षान्ति[4] का यह वास है।
शस्त्रबल पर ही टिकी जो शूरता वह निंद्य[5] है।
वीर वह अपनें गुणों से विश्व में जो वंद्य है ।।76।।

वत्स तेरा प्रश्न मुझको याद फिर से आ रहा।
चित्ररथकृत[6] पराजय के मूल में था क्या रहा।
तू महायोद्धा पराभव[7] किन्तु फिर कैसे मिला।
एक ही हुँकार से जो सुरों का दे उर हिला ।।77।।

नहीं आत्मा मिले मन से और फिर सारे करण[8]।
कौन कर सकता यहाँ अपवर्ग[9] का तब तक वरण।
कहाँ इस एकाग्रता के विना जग में सिद्धि है।
आत्म से विद्रोह बस विफलत्व की अभिवृद्धि है ।।78।।

---

1. कृतार्थ; 2, निर्विकार भाव से; 3. शीघ्र; 4. क्षमा; 5. निन्दा करने योग्य; 6. एक गन्धर्व जिसने दुर्योधन को बन्दी बनाया था; 7. पराजय; 8. इन्द्रियाँ; 9. कार्य सिद्धि।

दे रहे थे साथ तुम उस कदाचारी[1] व्यक्ति का।
नहीं आत्मा पा रही थी मार्ग कुछ अभिव्यक्ति का।
देह पर चलता न देखा आत्म ने शासन जभी।
हो गयी कुण्ठित बना वैफल्य[2] का कारण तभी ॥79॥

जो किए उद्यम सुयोधन हेतु वे थे देह[3] कृत।
चित्त से विद्रोह करने तुम चले थे शस्त्र[4] भृत्।
मिली तुमको जो विफलता चित्त की वह जीत है।
आत्म से बढ़कर जगत में कौन नर का मीत है ॥80॥

नहीं यह सिद्धान्त मेरा ज्ञान अनुभव जन्य है।
द्वन्द्वपीड़ावेत्ता[5] मुझ सदृश नर क्या अन्य है।
सफलताएँ झगड़ती जिस वीर के थीं चयन को।
देखते हो आज उसके बाणमय इस शयन को ॥81॥

जब जब होता व्यक्ति पराजित
अपने मानस रण में।
परम शूर की भी असफलता
निश्चित होती क्षण में।
तुच्छ एक कारण भी उसका
परिभव कर जाता है।
आयुध-कौशल और देह-बल
काम नहीं आता है ॥82॥

नहीं कोई द्वेष तुझसे कभी भी मुझको रहा।
किन्तु तेरी वीरता से मैं सदा चिन्तित रहा।
देख विक्रम की सखा के अतुलनीय प्रचण्डता।
अनुदिवस[6] वर्धित[7] हुई युवराज की उद्दण्डता ॥83॥

---

1. बुरे आचरण वाला; 2. विफलता; 3. शरीर से किए गए; 4. शस्त्रधारी;
5. जानने वाला; 6. दिनोंदिन; 7. बढ़ी।

किया अवमूल्यन[1] तुम्हारा झूठ ही यह मान कर।
थमेगा यह दुष्ट कौशल पार्थ का पहचान कर।
समर्थन उसका जभी करता हुआ पाता तुझे।
दिग्भ्रमित[2] वीरत्व पर तब क्षोभ होता था मुझे ।।84।।

बना दिया यदि तुझे समय ने
कौरव हित का रक्षी।
न्याय धर्म का बना खड़ा है
पुरुष श्रेष्ठ प्रतिपक्षी।
यह तो विधि का खेल यहाँ
कुछ तेरा दोष नहीं है।
तेरे प्रति हे वत्स स्वल्प भी
मुझको रोष नहीं है ।।85।।

त्याग और तप में आस्था[3] है
तेरी मुझसे बढ़ कर।
तेरे सदृश कौन पुरुषार्थी
फिरे नियतिशिर[4] चढ़कर।
स्वयं अमरपति[5] को भी उपकृत
तू ही कर सकता है।
अन्य कौन नरता सुरत्व[6] के
ऊपर धर सकता है ।।86।।

---

1. कम आंकना; 2. पथ भ्रष्ट; 3. निष्ठा, विश्वास; 4. भाग्य; 5. इन्द्र;
6. देवत्व।

नहीं अपेक्षा कुछ माध्यम की
तू है लहर विभा[1] की।
ऊर्जा सा तू है अविनाशी
वाँछा नहीं सुधा की।
अन्य मनुज हैं ध्वनि तरंग सम
माध्यम विना न गति है।
सीमित उनका वेग असीमित
तेरी रही प्रगति है ।।87।।

जाओ वत्स बनो वसुधा पर
अनुपम एक यशस्वी।
विक्रम के मार्तण्ड[2] न होगा
तुझसा अन्य मनस्वी[3]।
कर्तव्यों की कौन भला
दे सकता तुझको शिक्षा।
स्वयं नियति तेरे पौरुष से
सदा माँगती भिक्षा ।।88।।

कर्तव्यों की बलिवेदी पर
हँसकर चढ़ने वाले।
मैत्री धर्म धुरन्धर हे अनुजों
से लड़ने वाले।
करें भर्ग[4] कल्याण विश्व में
फैले कीर्ति घनेरी।
बने सफलता तेरी चेरी
यही कामना मेरी ।।89।।

---

1. प्रकाश—वैज्ञानिक तथ्य है कि प्रकाश की तरंगों को माध्यम की आवश्यकता नहीं होती; 2. सूर्य; 3. स्वाभिमानी; 4. शिवजी।

(कर्ण)

कर सादर चरणों का वन्दन
सजल नयन हो लौटा।
आज तात के सम्मुख पाया।
निज को कितना छोटा।
है उदारता अम्बर[1] जैसी
क्षमा - क्षमा[2] सी पायी।
धवल[3] चरित उत्तुङ्ग[4] शिखर सा
सागर सी गहराई ॥90॥

(गीतिका)

आज मुझको है प्रतीक्षित उदय हर क्षण सूर्य का।
कर्ण[5] हैं आतुर सुनें रव भेरियों का तूर्य[6] का।
कुशलता अपनी दिखाने हेतु वेला आ गयी।
पूर्ण अब होगा अभिलषितस्फूर्ति मन पर छा गयी ॥91॥

सुहृद का हित साधने का स्वर्ण अवसर है यही।
दूर रह कर महारण से वेदना कितनी सही।
व्यर्थ ही भाजन बना अपमान का मैं आर्य के।
अब लड़ूंगा पाण्डवों से साथ मिल आचार्य के ॥92॥

□□

---

1. आकाश; 2. पृथ्वी; 3. शुभ, उज्जवल; 4. ऊँचा; 5. कान; 6. रणवाद्य, तुरही।